पन्नालाल

बनाम

बम्बई राज्य और अन्य

11 फरवरी,1963

(न्यायाधीश पी. बी. गजेन्द्रगडकर, न्यायाधीश के. एन. वांचू, न्यायाधीश एम. हिदायतुल्ला, न्यायाधीश के. सी. दास गुप्ता और न्यायाधीश जे. सी. शाह.)

सिविल प्रक्रिया- प्रति-आपत्ति के माध्यम से सह-प्रतिवादी के खिलाफ राहत की मांग करने वाला प्रतिवादी- अपीलीय न्यायालय की शक्ति- सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का अधिनियम 5), ऑर्डर 41, नियम 22, 33.

अपीलार्थी ने अपने और उपायुक्त के बीच तीन अलग-अलग अनुबंधों के निष्पादन में अपने द्वारा निर्मित तीन अस्पतालों के संबंध में ब्याज के साथ पूर्ण भुगतान का दावा करते हुए तीन मुकदमे दायर किए। विचारण न्यायाधीश ने मध्य प्रदेश राज्य के खिलाफ उसके दावे के एक हिस्से के लिए मुकदमों का फैसला सुनाया और कहा कि अन्य प्रतिवादी उत्तरदायी नहीं थे, और तदनुसार उनके खिलाफ मुकदमों को खारिज कर दिया। मध्य प्रदेश राज्य द्वारा दायर अपीलों पर, उच्च न्यायालय ने राज्य सरकार के खिलाफ आदेश को रद्द कर दिया और हर्जे-खर्चे के साथ अपीलों को अनुमति दी। उस स्तर पर वादी ने प्रति-आपत्ति दायर करने के लिए उच्च न्यायालय की अनुमति और सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41 के नियम 33 के तहत उपायुक्त के खिलाफ आदेश पारित करने के लिए भी अनुरोध किया जिसे खारिज कर दिया गया और सभी मुकदमों को खारिज कर दिया गया। यह आग्रह किया गया कि (1) राज्य सरकार इन सभी अनुबंधों के संबंध में उत्तरदायी थी और (2) उच्च न्यायालय को ऐसे अन्य प्रतिवादियों

के खिलाफ राहत प्रदान करनी चाहिए थी जो उसे सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41 के नियम 33 के तहत उचित लगे।

अभिनिर्धारित किया, कि राज्य सरकार इनमें से किसी भी अनुबंध के संबंध में उत्तरदायी नहीं थी।

इसके अलावा, यह माना गया कि ऑर्डर 41 के नियम 33 का व्यापक शब्दांकन अपीलीय न्यायालय को न केवल अपीलार्थी और प्रतिवादी के बीच, बल्कि प्रतिवादी और प्रतिवादी के बीच भी जो भी आदेश वह उचित समझता है, उसे पारित करने का अधिकार देता है। यह नहीं कहा जा सकता था कि यदि कोई पक्ष जो ऑर्डर 41 के नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति दायर कर सकता था, ने ऐसा नहीं किया, अपीलीय न्यायालय किसी भी परिस्थिति में उसे ऑर्डर 41 के नियम 33 के प्रावधान के तहत राहत नहीं दे सकता था। ऑर्डर 41 का नियम 22 एक सामान्य नियम के रूप में एक प्रतिवादी को केवल अपीलार्थी के खिलाफ निर्देशित आपत्ति को दर्ज करने की अनुमति देता है, और यह केवल असाधारण मामलों में है कि ऑर्डर 41 के नियम 22 को अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ निर्देशित किया जा सकता है।

इन मामलों के तथ्यों पर उच्च न्यायालय ने कानून के गलत दृष्टिकोण पर ऑर्डर 41 के नियम 33 के तहत अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से इनकार कर दिया और इसलिए निर्णय के लिए अपील को उच्च न्यायालय में भेजा जाना चाहिए कि ऑर्डर 41 के नियम 33 के तहत वादी को राहत दी जानी चाहिए। बुरोडा सौंद्री दासी बनाम नोबो गोपाल मलिक, (1864) डब्ल्यू. आर. 295, महाराजा तारकनाथ रॉय बनाम तुबुरुन्निसा चौधरीन, (1867) 7 डब्ल्यू. आर. 39, गणेश पांडुरंग अग्ते बनाम गंगाधर रामकृष्ण, (1869); 6 बम. एच सी रैप. 2244, अनवर जान बीबी बनाम अज़मुत अली, (1870) 15 डब्ल्यू. आर. 26, तिर्मनामा वी. लक्ष्मणन, (1883) 7 मैड. 215.

वेंकटेश्वरलु बनाम रम्मामा, आई. एल. आर. (1950) मैड. 874, जान मोहम्मद बनाम पी. एन. रेज़्डेन, ए. आई. आर. (1944) लाह. 433 और चांदीप्रसाद बनाम जुगुल किशोर, ए. आई. आर. (1948) नाग। 377, संदर्भित किया गया। अनंत नाथ बनाम द्वारका नाथ, ए. आई. आर. (1939) पी. सी. 86, अभिनिर्धारित अप्रयोज्य।

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार: सिविल अपीलें 207 से 209/1961.

मूल आज्ञप्ति से प्रथम अपील सं. 105 – 107/1952 में नागपुर स्थित बंबई उच्च न्यायालय के फैसले और आज्ञप्ति दिनांकित 23 अगस्त, 1957 से अपीलें।

एस. टी. देसाई, जे. बी. दादाचंजी, ओ. सी. माथुर और रविंदर नारायण, अपीलार्थियों के लिए।

प्रतिवादी संख्या 1 के लिए पी. डी. मेनन के लिए सी. के. दफ्तरी, भारत के सॉलिसिटर जनरल, एन. एस. बिंद्रा और आर. एच. ढेबर।

प्रतिवादी सं 3 और 8 के लिए, सरदार बहादुर के लिए गिरीश चंद्र।

11 फरवरी,1963.

न्यायालय का निर्णय न्यायाधीश दास गुप्ता द्वारा दिया गया था-

अपीलार्थी इमारत का ठेकेदार है। उन्होंने उनके और भंडारा के उपायुक्त के बीच हुए तीन अस्पतालों के संबंध में तीन अलग-अलग अनुबंधों के निष्पादन में, मध्य प्रदेश के भंडारा जिले के भीतर बाई गंगा बाई मेमोरियल अस्पताल, गोंदिया; कुंवर तिलक सिंह सिविल अस्पताल, गोंदिया और त्वैनम अस्पताल, तुमसर के लिए के लिए इमारतों का निर्माण किया।

हालाँकि उन्हें इन अनुबंधों में से प्रत्येक के संबंध में आंशिक भुगतान प्राप्त हुआ, लेकिन उनका दावा है कि उन्हें अपने बकाया का पूरा भुगतान नहीं मिला है। 1 अप्रैल, 1948 को उन्होंने उन तीन मुकदमों को दायर किया, जिनमें से ये तीन अपीलें भुगतान प्राप्त करने के लिए उत्पन्न हुई है, जिसके बारे में उनका दावा है कि वे उन्हें देय थे। सभी तीनों शिकायतों में उनके कथन एक जैसे हैं, सिवाय एक मामले के, जो बाई गंगाबाई मेमोरियल अस्पताल के लिए किए गए निर्माण कार्य के संबंध में था जिसमें उपायुक्त के अनुरोध पर उनके द्वारा आपूर्ति किए गए कुछ फर्नीचर की कीमत का भी उन्होंने दावा किया है।

इन तीन मुकदमों में वादी का सामान्य मामला यह था कि उपायुक्त ने सरकार की पूर्व मंजूरी प्राप्त करने के बाद "प्रांतीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में" इन अनुबंधों में प्रवेश किया। यह उनकी दलील थी कि उपायुक्त भंडारा ने अस्पतालों के प्रशासनिक प्रमुख के रूप में इन अनुबंधों में प्रवेश किया और इस तरह अनुबंधों पर देय राशि का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी था। शिकायत में यह भी कहा गया है कि गोंडिया नगर समिति, गोंडिया ने बाई गंगाबाई स्मारक अस्पताल के संबंध में मुकदमे में और अन्य दो मुकदमों में औषधालय निधि समिति वादी के दावे को संतुष्ट करने के लिए उत्तरदायी थी क्योंकि उन्होंने अनुबंध के तहत किए गए कार्य का लाभ लिया जो निःशुल्क रूप से नहीं किया जाना था। इन कथनों पर वादी ने मध्य प्रांत और बरार प्रांत की प्रांतीय सरकारों को प्रथम प्रतिवादी पक्ष के रूप में आरोपित किया और भंडारा जिले के उपायुक्त को तीनों मुकदमों में दूसरे प्रतिवादी के रूप में आरोपित किया। गोंडिया नगर समिति को 1948 के वाद सं. 3-बी में तीसरे प्रतिवादी के रूप में आरोपित, अर्थात बाई गंगाबाई स्मारक अस्पताल के संबंध में। औषधालय निधि समिति को अन्य दो मामलों में तीसरे प्रतिवादी के रूप में शामिल किया। दोनों में, औषधालय निधि समिति को नाम से प्रतिवादी के रूप में आरोपित किया।

श्री जी. के. तिवारी, जिन्होनें उपायुक्त भंडारा की हैसियत से बहस पर हस्ताक्षर किए को उनकी व्यक्तिगत क्षमता में सभी तीन मुकदमों में शामिल किया गया था (मुक़दमा संख्या 3-बी में प्रतिवादी संख्या 4, मुकदमा संख्या 2-बी में प्रतिवादी संख्या 9 और मुकदमा संख्या 1-बी में प्रतिवादी संख्या 14)।

मध्य प्रदेश राज्य को बाद में तीनों मुकदमों में पहले प्रतिवादी के रूप में मध्य प्रांतों और बेरार प्रांत की प्रांतीय सरकारों से प्रतिस्थापित किया गया था।

वादपत्र में यह स्वीकार किया गया था कि निर्माण अनुबंध में उल्लिखित समय के भीतर पूरा नहीं किया जा सका, लेकिन यह दलील दी गई कि समय अनुबंध का मूलतत्त्व नहीं था और इसके अलावा, देरी उपायुक्त की समय पर आवश्यक सामग्री आपूर्ति में विफलता और मौसम की खराबी के कारण हुई थी तथा उपायुक्त द्वारा समय भी बढ़ाया गया। तीनों मुकदमों में वादी ने इस दलील के साथ अनुबंध दर से अधिक दर पर अपना दावा किया कि, उपायुक्त ने इन उच्च दरों को मंजूरी दे दी थी। वर्तमान अपीलों के प्रयोजन के लिए, जिसमें हम केवल कानून के प्रश्न से संबंधित हैं, वादपत्र में विभिन्न अन्य कथनों का उल्लेख करना अनावश्यक है।

हालाँकि यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सूट नंबर 3-बी में वादी ने मुकदमे की तारीख से हर्ज़े खर्चे और ब्याज के साथ 21,281/-रुपये की डिक्री मांगी थी प्रतिवादी 1 से 3 के खिलाफ और विकल्प में, प्रतिवादी नंबर 4, यानी, श्री जीके तिवारी के खिलाफ। वाद संख्या 1-बी में, वादी ने प्रतिवादी 1 से 3 और/या प्रतिवादी संख्या 14, यानी श्री जीके तिवारी के खिलाफ मुकदमे की तारीख से पूरे हर्ज़े खर्चे और भविष्य के ब्याज के साथ 12,000/- रुपये की डिक्री का दावा किया।

वाद संख्या 2-बी में वादी ने प्रतिवादी 1 से 3 और/या प्रतिवादी संख्या 9, यानी श्री जी के तिवारी के खिलाफ मुकदमे की तारीख से पूरे हर्ज़े खर्चे और भविष्य के ब्याज के साथ 32,208/- रुपये की डिक्री का दावा किया।

मुकदमे का विरोध करने में मध्य प्रदेश राज्य का मुख्य तर्क यह था कि भवनों के निर्माण के लिए समझौता राज्य सरकार की ओर से नहीं किया गया था और यह भी कि अस्पताल सरकारी अस्पताल नहीं था और इसलिए इसकी कोई देनदारी नहीं थी। भंडारा के उपायुक्त और श्री तिवारी ने भी व्यक्तिगत रूप से यही दलीलें उठाईं। उन सभी ने आगे तर्क दिया कि गुण दोष के आधार पर भी वादी किसी राहत का हकदार नहीं है, हालांकि, समय अनुबंध का मूल तत्व था, लेकिन काम सहमत समय के भीतर समाप्त नहीं हुआ था। उन्होंने बढ़ी हुई दरों के वादी के दावे का भी इस आधार पर विरोध किया कि उपायुक्त से पूर्व मंजूरी प्राप्त नहीं की गई थी। सभी मुकदमों में उठाया गया एक और तर्क यह था कि वादी का दावा समय से बाधित था। अन्य प्रतिवादियों ने भी उन आधारों पर मुकदमे का विरोध किया, जिन्हें वर्तमान अपीलों के प्रयोजन के लिए उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

ट्रायल जज ने माना कि विचाराधीन समझौते राज्य के लिए और उसकी ओर से किए गए थे और इसके अलावा, निर्माणों से "संदेह से परे राज्य को लाभ हुआ" और इसलिए राज्य उत्तरदायी था। विद्वान न्यायाधीश ने वादी के दावे पर प्रतिवादियों द्वारा उठाई गई विभिन्न आपत्तियों को भी गुण-दोष के आधार पर खारिज कर दिया, सिवाय इसके कि उन्होंने वादी के दावे के एक हिस्से को अस्वीकार कर दिया और वादी को तीनों मुकदमों में मध्य प्रदेश राज्य के खिलाफ उसके दावे के एक हिस्से के लिए डिक्री दे दी। उन्होंने यह भी माना कि अन्य प्रतिवादियों में से कोई भी उत्तरदायी नहीं था और उनके खिलाफ मुकदमों को खारिज कर दिया।

इन मुकदमों में ट्रायल कोर्ट के फैसले के खिलाफ मध्य प्रदेश राज्य ने नागपुर उच्च न्यायालय में अपील दायर की। इन अपीलों के लंबित रहने के दौरान मध्य प्रदेश राज्य को बॉम्बे राज्य द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था। इन सभी अपीलों में वादी पन्नालाल को पहले प्रतिवादी के रूप में शामिल किया गया था; और अन्य सभी प्रतिवादियों को भी प्रतिवादी के रूप में शामिल किया गया। ट्रायल कोर्ट से असहमति जताते हुए उच्च न्यायालय ने माना कि डिप्टी कमिश्नर द्वारा किया गया अनुबंध राज्य सरकार पर बाध्यकारी नहीं था; कि डिप्टी कमिश्नर ने अपने विवेक से अनुबंध पर हस्ताक्षर किये; और इसके अलावा, अनुबंधों को ऐसे फॉर्म में दर्ज नहीं किए जाने से जैसे की भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 175(3) के तहत आवश्यक है, वो राज्य सरकार के विरुद्ध लागू करने योग्य नहीं थे। उच्च न्यायालय ने यह भी उपायुक्त द्वारा किए गए अनुबंधों की कार्रवाई के लिए यह नहीं माना जा सकता कि सरकार ने उसकी पुष्टि की है। उच्च न्यायालय ने उनके इस निष्कर्ष पर कि अस्पताल सरकारी अस्पताल नहीं थे, इस तर्क को भी खारिज कर दिया कि चूंकि सरकार को कार्यों का लाभ प्राप्त हुआ है, उसे उनके लिए भुगतान करना होगा, और सरकार को "किसी भी तरह से इस संबंध में किए गए किसी भी काम से लाभान्वित नहीं माना जा सकता है"। इन निष्कर्षों पर उच्च न्यायालय ने राज्य सरकार के खिलाफ ट्रायल कोर्ट द्वारा पारित डिक्री को रद्द कर दिया और हर्जे खर्चे के साथ अपील की अनुमति दी।

ऐसा प्रतीत होता है कि वादी-प्रतिवादी की ओर से प्रार्थना की गई थी कि उच्च न्यायालय को उपायुक्त, भंडारा के खिलाफ सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41, नियम 33 के तहत डिक्री पारित करनी चाहिए। उस प्रार्थना को उच्च न्यायालय ने इन शब्दों में खारिज कर दिया:-

"श्री फड़के ने तब प्रार्थना की कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 नियम 33 के तहत हमें भंडारा के उपायुक्त के खिलाफ आदेश पारित करना चाहिए, जो निस्संदेह अनुबंध के पक्षकार थे। हालांकि आदेश 41, नियम 33 के प्रावधान इसकी अनुमति देने के लिए काफी व्यापक हैं, हमें कोई कारण नहीं दिखता कि हम क्यों अपनी शक्ति का प्रयोग करें जबकि यह प्रतिवादी 1 के लिए खुला था कि वो अपने मुकदमों को खारिज करने के खिलाफ उन प्रतिवादियों के साथ-साथ कुछ अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ प्रति -आपत्ति दर्ज करवाते।"

उच्च न्यायालय ने वकील की उस प्रार्थना को भी खारिज कर दिया, जिसमें उस स्तर पर उसे प्रति -आपत्ति दायर करने की अनुमति देने की मांग की गई थी। परिणामस्वरूप, तीनों मुकदमों को उच्च न्यायालय ने पूरी तरह से खारिज कर दिया। हालाँकि उच्च न्यायालय ने संविधान की धारा 133(1)(सी) के तहत एक प्रमाण पत्र प्रदान किया। उस प्रमाणपत्र के आधार पर वादी द्वारा ये तीन अपीलें प्रस्तुत की गई हैं।

अपील के समर्थन में दो आधारों का आग्रह किया गया। पहला यह कि उच्च न्यायालय का यह मानना गलत था कि राज्य सरकार उत्तरदायी नहीं थी। दूसरा आधार जिसके लिए आग्रह किया गया था कि, किसी भी सूरत में, उच्च न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41, नियम 33 के प्रावधानों के तहत जैसा उसे उचित लगे, वादी को अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ राहत देनी चाहिए थी।

हमारी राय में, अपीलकर्ता के इस तर्क में कोई दम नहीं है कि राज्य सरकार उत्तरदायी थी। रिकॉर्ड पर मौजूद सामग्रियों से, हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपायुक्त ने अनुबंधों पर हस्ताक्षर करने में राज्य सरकार की ओर से कार्य नहीं किया। न ही यह

कहा जा सकता है कि वादी द्वारा किये गये कार्य से राज्य सरकार को लाभ हुआ। हमारी राय में, उच्च न्यायालय अपने निष्कर्ष पर सही था कि राज्य सरकार इनमें से किसी भी अनुबंध के संबंध में उत्तरदायी नहीं थी और प्रतिवादी नंबर 1 के खिलाफ मुकदमे को खारिज कर के सही किया। इस स्थिति पर हमारे सामने गंभीर रूप से असहमति नहीं जताई गई।

हालाँकि, अपीलकर्ता के इस तर्क में बहुत दम है कि उच्च न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41, नियम 33 के प्रावधानों के तहत वादी के पक्ष में अपने अधिकार क्षेत्र का प्रयोग करना चाहिए। उस नियम का ऑपरेटिव भाग, जिसे पहली बार 1908 में सिविल प्रक्रिया संहिता में पेश किया गया था, इन शब्दों में है:-

> "33. अपीलीय अदालत के पास कोई भी डिक्री पारित करने और कोई भी आदेश देने की शक्ति होगी जिसे पारित किया जाना चाहिए या किया जाना चाहिए, और इस तरह के आगे या अन्य डिक्री या आदेश को पारित करने या बनाने की शक्ति होगी जैसा कि मामले की आवश्यकता हो सकती है, और इस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है न्यायालय द्वारा इस बात के बावजूद कि अपील केवल डिक्री का हिस्सा है और सभी या किसी भी उत्तरदाताओं या पक्षकारों के पक्ष में की जा सकती है, भले ही ऐसे उत्तरदाताओं या पक्षकारों ने कोई अपील या आपत्ति दर्ज नहीं की होगी।"

1922 के अधिनियम 9 द्वारा इसमें एक परंतुक जोड़ा गया, जिससे हालाँकि, हमें कोई सरोकार नहीं है। हालाँकि, नियम का उदाहरण देना आवश्यक है, जो इस प्रकार है:

> "ए एक्स या वाई से देय धनराशि का दावा करता है, और दोनों के खिलाफ एक मुकदमे में एक्स के खिलाफ डिक्री प्राप्त करता है। एक्स

अपील करता है और ए और वाई प्रतिवादी हैं। अपीलीय न्यायालय एक्स के पक्ष में निर्णय देता है। इसके पास वाई विरुद्ध डिक्री पारित करने का अधिकार है।"

यहां तक कि आदेश 41, नियम 33 का मात्र वाचन भी किसी को भी यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त है कि विस्तृत शब्दांकन का उद्देश्य अपीलीय अदालत को यह अधिकार देना था कि वह जो भी उचित समझे आदेश पारित करे, न केवल अपीलकर्ता और प्रतिवादी के बीच, बल्कि एक प्रतिवादी और प्रतिवादी के बीच भी। यह अपीलीय अदालत को न केवल अपील की अनुमति देकर या खारिज करके अपीलकर्ता को राहत देने या अस्वीकार करने का अधिकार देता है, बल्कि "मामले की आवश्यकता के अनुसार" किसी भी प्रतिवादी को ऐसी अन्य राहत देने का भी अधिकार देता है "जैसा की मामले में आवश्यकता हो"। वर्तमान मामले में, यदि कानून में कोई बाधा नहीं थी, तो उच्च न्यायालय यद्यपि वादी के मुकदमों को खारिज करके राज्य की अपील को अनुमति ड़ेकर, वादी को किसी भी या सभी अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ डिक्री दे सकता था जो प्रतिवादी के रूप में अपील के पक्षकार थे। जबकि खंड के शब्द ही इस स्थिति को स्पष्ट रूप से स्पष्ट करते हैं, उदाहरण स्थिति को तर्क से परे कर देता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय को एक या अधिक अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ मुकदमे का फैसला करके वादी को राहत देने की अपनी शक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं है। लेकिन विद्वान न्यायाधीशों का कहना है, "हम ऐसा करना उचित नहीं समझते क्योंकि वादी सीपीसी के ऑर्डर 41, नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति दायर करके इस राहत की मांग कर सकता था, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया।" इसके पीछे तर्क यह प्रतीत होता है कि ऑर्डर 41, नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति को केवल उसमें बताए गए समय के भीतर ही दायर किया जा सकता है और यदि कोई प्रतिवादी जो

क्रॉस-आपत्ति दायर कर सकता था, उसने ऐसा नहीं किया, तो उसे ऑर्डर 41, नियम 33 के तहत राहत दी जाती है, ऑर्डर 41, नियम 22 के मृत पत्र बनने की संभावना है।

पूरा तर्क इस धारणा पर आधारित है कि वादी सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41, नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति दाखिल करके ट्रायल कोर्ट के फैसले को उस हद तक चुनौती दे सकता था, जहां तक उसने राज्य के अलावा अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ मुकदमों को खारिज कर दिया। हमें, वर्तमान में सलाह नहीं दी गई है, ना ही इस बात से सहमत होने के लिए तैयार हैं कि यदि कोई पक्षकार सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41, नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति दाखिल कर सकता था, के ऐसा नहीं करने पर अपीलीय न्यायालय किसी भी परिस्थिति में ऑर्डर 41, नियम 33 के तहत उसे राहत नहीं दे सकता है। इसलिए, हमारे लिए इस प्रश्न पर आगे चर्चा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि, हमारी राय में, उच्च न्यायालय द्वारा बनाई गई यह धारणा कि वादी प्रति-आपत्ति दायर कर सकता था, उचित नहीं है।

क्या कोई प्रतिवादी किसी अन्य प्रतिवादी के खिलाफ सिविल प्रक्रिया संहिता के ऑर्डर 41, नियम 22 के तहत प्रति-आपत्ति द्वारा राहत की मांग कर सकता है या नहीं, यह भारतीय अदालतों में लंबे समय से एक विवादास्पद प्रश्न था। वर्तमान ऑर्डर 41, नियम 22 ने 1882 की संहिता की पूर्व धारा 561 की जगह ले ली है ।

वास्तव में, एक अलग अपील के बिना प्रतिवादी द्वारा आपत्ति उठाने के संबंध में प्रावधान 1859 की संहिता की धारा 348 में भी दिखाई देता है। उसी प्रावधान को थोड़े अधिक विस्तृत रूप में 1877 की संहिता में धारा 561 के रूप में अधिनियमित किया गया था। इसे 1882 की संहिता में भी मामूली संशोधन के साथ धारा 561 के रूप में इन शब्दों में पुन: प्रस्तुत किया गया था :-

"कोई भी प्रतिवादी, भले ही उसने डिक्री के किसी भी हिस्से के खिलाफ अपील नहीं की हो, सुनवाई के दौरान न केवल निचली अदालत में उसके खिलाफ तय किए गए किसी भी आधार पर डिक्री का समर्थन कर सकता है, बल्कि डिक्री पर कोई आपत्ति भी कर सकता है, जो वह अपील के माध्यम से कर सकता था, बशर्ते उसने अपील की सुनवाई के लिए निर्धारित तिथि से कम से कम सात दिन पहले ऐसी आपत्ति की सूचना दायर की हो। ऐसी आपत्ति एक ज्ञापन के रूप में होगी, और धारा 541 के प्रावधान, जहां तक वे अपील के ज्ञापन की शैली और सामग्री से संबंधित हैं, उस पर लागू होंगे।

जब तक प्रतिवादी आपत्ति के साथ अपीलकर्ता या उसके वकील से उसकी एक प्रति प्राप्त करने की लिखित स्वीकृति दाखिल नहीं करता, अपीलीय न्यायालय द्वारा ऐसी प्रति, आपत्ति दाखिल होने के बाद जितनी जल्दी हो सके, प्रतिवादी के खर्च पर अपीलकर्ता या उसके वकील को दी जाएगी।"

यह प्रश्न कि क्या एक प्रतिवादी इन प्रावधानों के तहत प्रति-आपति के माध्यम से किसी अन्य प्रतिवादी के खिलाफ राहत की मांग कर सकता है, लगभग एक शताब्दी पहले पहली बार अदालतों के समक्ष उठाया गया था। कलकत्ता और बंबई उच्च न्यायालय दोनों ने कई मामलों में माना कि आम तौर पर प्रतिवादी के लिए आपत्ति के माध्यम से सह-प्रतिवादी के खिलाफ राहत मांगने का अधिकार नहीं है, हालांकि असाधारण मामलों में ऐसा किया जा सकता है। (देखें: बुरोडा साउंड्री डोसी बनाम नोबो गोपाल मल्लिक (1864- डब्ल्यूआर 294), महाराजा तारुकनाथ रॉय बनाम टुबोर्ननिसा चौधराइन (1867-7 डब्ल्यूआर 39), गणेश पांडुरंग अगटे बनाम गंगाधर रामकृष्ण

(1869-6 बम. एचसी प्रतिनिधि 244), अनवर जान बीबी बनाम अजमुत अली (1870-15 डब्ल्यूआर 26).

यह उल्लेख करना उचित है कि ये निर्णय 1859 की संहिता के तहत दिए गए थे, जहां धारा 348 में प्रावधान था कि "अपील की सुनवाई पर, प्रतिवादी निचली अदालत के फैसले पर कोई आपत्ति ले सकता है, जैसे उसने इस तरह का निर्णय पर लिया होता अगर उसने अलग से अपील की होती।" इस धारा को 1877 की संहिता में धारा 561 द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने के बाद यह प्रश्न कि क्या एक प्रतिवादी किसी अन्य प्रतिवादी के खिलाफ आपत्ति दायर कर सकता है, कई बार अदालतों के सामने आया और निर्णय वही रहा। पटना और इलाहाबाद उच्च न्यायालयों ने यह भी विचार किया कि एक सामान्य नियम के रूप में प्रतिवादी का प्रति-आपति का आग्रह करने का अधिकार केवल अपीलकर्ता के खिलाफ राहत मांगने तक ही सीमित होना चाहिए और यह केवल वहीं है जहां अपील उन प्रश्नों को खोलती है जिनका निपटारा सह प्रतिवादियों के बीच मामलों को खोलने के अलावा उचित रूप में नहीं किया जा सकता है, कि आपत्तियों के माध्यम से भी उत्तरदाताओं के खिलाफ राहत मांगी जा सकती है। मद्रास उच्च न्यायालय ने तिम्मैया बनाम लक्ष्मणन (1883-7 मैड. 215) में एक अलग दृष्टिकोण अपनाया और माना कि धारा के शब्द डिक्री के किसी भी हिस्से पर सभी आपत्तियों को कवर करने के लिए पर्याप्त व्यापक थे और यह इस धारा के तहत प्रतिवादी के लिए खुला था कि वह किसी अन्य प्रतिवादी के खिलाफ भी राहत मांग ले, और 1908 की संहिता द्वारा "आपत्ति" के स्थान पर "प्रति-आपत्ति" शब्द का उपयोग करके प्रावधान में एक महत्वपूर्ण बदलाव किए जाने के बाद भी उस न्यायालय द्वारा इस दृष्टिकोण को दोहराया गया था। अंततः 1950 में वेंकटेश्वरलू बनाम रम्मामा (आई.एल.आर. (1950) मैड. 874.) मामले में मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने इस प्रश्न पर फिर से विचार किया और पिछले सभी निर्णयों को खारिज कर दिया, कि

भाषा के उचित निर्माण पर ऑर्डर 41, नियम 22 प्रतिवादी को अलग से अपील दायर किए बिना डिक्री पर आपत्ति जताने का केवल सीमित अधिकार देता है; ऐसी आपत्ति, एक सामान्य नियम के रूप में, मुख्य रूप से अपीलकर्ता के खिलाफ होनी चाहिए, हालांकि असाधारण मामलों में यह संयोग से अन्य उत्तरदाताओं के खिलाफ भी निर्देशित हो सकती है। लाहौर उच्च न्यायालय, जिसने पहले मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्व दृष्टिकोण का पालन किया था, ने भी जान मोहम्मद बनाम पीएन राजदेन (एआईआर 1944 – लाह. 433) में इलाहाबाद, बॉम्बे, कलकत्ता और पटना के उच्च न्यायालयों द्वारा रखे गए अन्य दृष्टिकोण को अपनाने का निर्णय लिया। नागपुर उच्च न्यायालय ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है। (चंडीप्रसाद बनाम जुगुल किशोर देखें) (एआईआर 1948 नाग. 377).

हमारी राय में, यह दृष्टिकोण अब सभी उच्च न्यायालयों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि आदेश 41, नियम 22 एक सामान्य नियम के रूप में, एक प्रतिवादी को केवल अपीलकर्ता के खिलाफ निर्देशित आपत्ति को दायर करने की अनुमति देता है और यह केवल असाधारण मामलों में होता है, जैसे कि जहां ऐसी आपत्ति में अपीलकर्ता के खिलाफ मांगी गई राहत अन्य उत्तरदाताओं को दी गई राहत के साथ मिश्रित होती है, यानि कि आपत्ति करने वाले प्रतिवादी और अन्य प्रतिवादियों के बीच प्रश्न को दोबारा खोले बिना अपीलकर्ता के खिलाफ राहत नहीं दी जा सकती, तब आदेश 41, नियम 22 के तहत एक आपत्ति को अन्य उत्तरदाताओं के विरुद्ध निर्देशित किया जा सकता है, यह सही है। पुरानी धारा 561 के तहत जो भी स्थिति रही हो, आदेश 41, नियम 22 में "प्रति- आपत्ति" शब्द का उपयोग विधायिका की मंशा को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है कि आपत्ति अपीलकर्ता के खिलाफ निर्देशित की जानी चाहिए। जैसा कि राजम्मन्नार सी.जे. ने वेंकटस्वर्लु बनाम रामम्मा (आईएलआर (1950) मैड. 874) में कहा था, "प्रतिवादी द्वारा ली जा सकने वाली आपत्ति को विधायिका ने "प्रति-आपत्ति" के रूप में

वर्णित करके जानबूझकर अन्य उच्च न्यायालयों के दृष्टिकोण को अपनाया होगा। कोई भी प्रतिवादी की आपत्ति को प्रति- आपत्ति के रूप में नहीं मान सकता है जिसमें अपीलकर्ता की कोई रुचि नहीं है। अपील अपीलकर्ता द्वारा एक प्रतिवादी के विरुद्ध है, प्रति-आपत्ति -अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रतिवादी द्वारा एक आपत्ति होनी चाहिए"। हम सम्मानपूर्वक सोचते हैं कि ये अवलोकन मामले को स्पष्ट एवं सही रूप से रखते हैं। विधायिका भी विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा रखे गए विचारों को प्रभावी बनाना चाहती थी कि असाधारण मामलों में जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, एक प्रतिवादी द्वारा एक सह प्रतिवादी के खिलाफ आपत्ति दर्ज की जा सकती है, इसका संकेत तीसरे पैराग्राफ में "अपीलकर्ता" शब्द के "वह पक्ष जो ऐसी आपत्ति से प्रभावित हो सकता है" शब्दों से प्रतिस्थापन से मिलता है।

वर्तमान मामले के तथ्यों पर, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वादी अपीलकर्ता के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष अन्य प्रतिवादियों, जो सह प्रतिवादी थे, के खिलाफ कोई भी प्रति -आपत्ति दायर करना खुला नहीं था। इसलिए उच्च न्यायालय कोई भी राहत जो वादी को सिविल प्रक्रिया संहिता आदेश 41, नियम 22 के प्रावधानों के तहत दी जा सकती थी पर विचार करने से इंकार करने में गलत था।

सिविल अपील संख्या 209/1961 में गोंदिया नगर पालिका के लिए उपस्थित हुए विद्वान वकील ने अपने तर्क के लिए अनाथ नाथ बनाम द्वारका नाथ (एआईआर 1939 पीसी 86) में प्रिवी काउंसिल के फैसले पर भरोसा किया कि नियम 33 का वर्तमान में सही ढंग से उपयोग नहीं किया जा सकता है। उस मामले में वादी ने राजस्व बिक्री को अधिकार क्षेत्र के अभाव और अनियमितताओं के लिए बुरा होने के कारण पूरी तरह से शून्य बताते हुए चुनौती दी और आगे तर्क दिया कि प्रतिवादी संपत्ति में अपने सह-मालिकों के प्रतिकूल धोखाधड़ी या अनुचित आचरण का दोषी था। ट्रायल

कोर्ट ने वादी के मामले को खारिज कर दिया कि बिक्री अधिकार क्षेत्र के अभाव और अनियमितताओं के लिए बुरा होने के कारण शून्य थी, लेकिन अन्य तर्क को स्वीकार कर लिया और वादी को एक डिक्री दे दी। अपील पर, उच्च न्यायालय ने माना कि राजस्व बिक्री के संबंध में सह-मालिकों के प्रति कोई धोखाधड़ी या अनुचित आचरण प्रतिवादी नंबर 1 के खिलाफ साबित नहीं हुआ था। उच्च न्यायालय ने वादी को दूसरे आधार पर कोई राहत देने से इनकार कर दिया जो कि ट्रायल कोर्ट द्वारा इसे इस दृष्टि से खारिज कर दिया गया कि यह अब वादी के लिए खुला नहीं है, जिसने ट्रायल कोर्ट के फैसले पर यह कहते हुए कोई प्रति-आपत्ति दायर नहीं की अधिकार क्षेत्र के अभाव या अनियमितता के कारण राजस्व बिक्री को रद्द किया जाना चाहिए। उच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए प्रिवी काउंसिल ने कहा:-

> "न्यायाधीश गण के विचार में मामला स्पष्ट रूप से नियम 22 के उप-नियम (1) के अंतिम शब्दों द्वारा लगाई गई शर्तों के अंतर्गत आता है, बशर्ते उसने अपीलीय न्यायालय में ऐसी आपत्तियां दायर की हों, आदि आदि।" हालाँकि, यह तर्क दिया गया था कि उसी आदेश के नियम 33 की भाषा मामले को कवर करने के लिए पर्याप्त व्यापक थी। भले ही न्यायाधीश गण यह मानते हो कि उच्च न्यायालय अपील के इस आधार पर विचार करने की शक्ति से पूरी तरह से रहित नहीं था - एक ऐसी धारणा जिसके प्रति वे स्वयं प्रतिबद्ध नहीं हैं- उनकी स्पष्ट राय है कि वर्तमान मामले में नियम 33 का सही ढंग से उपयोग नहीं किया जा सकता है ताकि उस महत्वपूर्ण शर्त को निरस्त किया जा सके जो नीचे की अदालतों में सफल हुए पक्षकारों को अपील के आधारों की सूचना दिए बिना एक स्वतंत्र अपील को प्रभावी होने से रोकता है।"

इस निर्णय से प्रतिवादियों को कोई सहायता नहीं मिलेगी। जिस प्रश्न पर हमने यहां विचार किया है, अर्थात, एक प्रतिवादी के लिए प्रति-आपत्ति के माध्यम से एक सह-प्रतिवादी के खिलाफ राहत मांगने का अधिकार कितना खुला है, वह प्रिवी काउंसिल द्वारा विचार के लिए नहीं आया था। प्रिवी काउंसिल ने अपना निर्णय इस दृष्टिकोण पर आधारित किया कि यह उच्च न्यायालय के समक्ष प्रतिवादी के लिए खुला था कि आदेश 41, नियम 22 के तहत अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रति-आपत्ति दायर करने का विकल्प खुला था, और अब हमारे सामने प्रश्न पर विचार नहीं करना था। हम यह बताना भी उचित समझते हैं कि अनाथनाथ के मामले (एआईआर 1939 पीसी 86) में प्रिवी काउंसिल के निर्णय को इस कथन के लिए प्राधिकार के रूप में नहीं माना जाना चाहिए कि प्रति-आपत्ति दायर करने में विफलता - जहां ऐसी आपत्ति कानून दायर की जा सकती है- निश्चित रूप से और आवश्यक रूप से ऑर्डर 41, नियम 33 के अनुप्रयोग को वर्जित करता है। वहाँ न्यायाधीश गण ने निर्णय किए बिना यह मान लिया कि , उच्च न्यायालय अपील के दूसरे आधारों पर विचार करने की शक्ति से पूरी तरह रहित नहीं था, लेकिन मामले की विशेष परिस्थितियों में उन्होंने सोचा कि अपीलकर्ता को नियम 33 के प्रावधानों के तहत राहत देना सही नहीं होगा।

चूँकि उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता ऑर्डर 41, नियम 33 के तहत कानून के गलत दृष्टिकोण पर अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से इनकार कर दिया, मामले को वापस उच्च न्यायालय में जाना होगा। हम उच्च न्यायालय के आदेश को उस हद टीके बरकरार रखते हैं जहां तक वह बॉम्बे राज्य के खिलाफ मुकदमों को खारिज कर देता है लेकिन उस आदेश को रद्द कर देते हैं जहां तक वह अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ मुकदमों को खारिज कर देता है और मामले को वापस उच्च न्यायालय में भेज देते हैं ताकि वह मामले के गुण दोष की जांच पर निर्णय लें कि क्या वादी को सिविल प्रक्रिया संहिता ऑर्डर 41, नियम 33 के प्रावधानों के तहत राहत दी

जानी चाहिए। इस न्यायालय में होने वाला हर्जा खर्चा बॉम्बे उच्च न्यायालय के समक्ष अपील के अंतिम परिणाम के अनुरूप होगा ।

अपीलें आंशिक रूप से स्वीकार की गईं। मामले को वापस भेजा गया।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल '**सुवास**' की सहायता से अनुवादक अशोक कुमार मीना द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण: यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।